श्रीकार शिखर

(प्रणव गेय संपुट)

तेलुगु मूल : डा. जे. बापुरेड्डी

हिन्दी रूपान्तर : डा. ए. श्रीरामरेड्डी

प्रकाशन

सुखेला निकेतन

ऐ. सी. 85, इर्रम मंजिल कालनी

हैदराबाद

SRIKARA SIKHAR
Collection of Lyrics in Telugu

Translated in to Hindi
by **Dr. A. Sri Rama Reddy**

* * *

प्रथम प्रकाशन
जनवरी, 1987

* * *

मूल्य : 25.00

* * *

मुख चित्र : बालि

* * *

प्रकाशक :
सुखेला निकेतन
ऐ. सी. 85, इर्रम मंजिल कालनी, हैदराबाद

* * *

मुद्रक :
दक्षिण भारत प्रेस
खैरताबाद, हैदराबाद–500 004

* * *

प्रतियों के लिए :
जयम प्रकाशन
प्लाट नं. 10, रोड नं. 5
जूबिली हिल्स, हैदराबाद–500 034

श्रीमती अन्नपुरेड्डी भारतीदेवी, एम. ए.
31–10–12, आनंद भवन, पहली गली
माचवरम, विजयवाडा-4

समर्पण

"श्रीकार शिखर"

नामक यह काव्य–कुसुम

श्री श्री श्री

श्री काशी विश्वनाथ जी को

भक्ति सहित समर्पित

–सुखेला निकेतन
हैदराबाद

आभार-ज्ञापन

तेलुगु काव्य श्रीकार शिखरं के
हिन्दी रूपान्तरकार डा. ए. श्रीरामरेड्डी जी का,
उसे प्रकाशित करनें का मौका देने के कारण
डा. जे. बापुरेड्डी जी का,
हार्दिक एवं आर्थिक प्रोत्साहन देने के हेतु
श्री एम. एन. अग्रवाल जी का,
श्री एस.आर. कैलाश जी का,
श्री ऐ. एस. मित्तल जी का
श्री आर. के. मित्तल जी का,
मुख चित्रकार श्री बालि जी का,
मुद्रक दक्षिण भारत प्रेस का
हम हार्दिक आभार मानते हैं ।

–सुखेला निकेतन
हैदराबाद

भूमिका

भारतीय संस्कृति अपनी सहज प्रणवात्मक सत्व गुण–संपत्ति के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है । प्रकृति के कण–कण में विद्यमान दिव्य चेतनांश को पहचान कर, सब के बीच आदान–प्रदानात्मक अंत: संबंध को विकसित करना हमारी संस्कृति की विशेषता है । इस दिशा में भारतीय अद्वैतवाद अनन्य प्रेरणा प्रदान करता आ रहा है । प्रकृति, मानव और परमात्मा के बीच बहने वाली समरसता जीवन के लिए प्राप्त उत्तम सरसता है ।

सदा फैलों में उलझे रहने वाले ऐ.ए.यस. आफीसर डा. जे. बापुरेड्डी जी के सुंदर प्रणवात्मक गेय काव्य "**ओंकार शिखर**" में भारतीय अद्वैतवाद केलिए सहज काव्य का सरस रूप मिल गया । प्रकृति, मानव और परमात्मा से संबद्ध विविध जीवन–रूपों में समरसता स्थापित करते हुए कवि ने अपने काव्य में सरसता का भी संचार कर दिया । सरल, संक्षिप्त अभिव्यक्ति इस लक्ष्य की सफलता में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई ।

गंभीरता के समुन्नत शिखर पर साधना करने वाले मूक योगी, जीवन के विभिन्न रूपों को दिव्यालोक से अनुप्राणित करने वाले ज्ञान–सूत्र, सांस्कृतिक परंपरा में अत्युन्नत स्तर प्राप्त करने वाली सत्य–साधना, आंतरिक नयनों के सम्मुख निरंतर साकार होने वाले समुज्वल पर–हित–स्वप्न, स्नेह के सहज विकास एवं संचार के लिए चांदनी की सेज पर पहुँचने वाली सुकुमार मानसिक स्थिति, विश्व हृदय–वीणा पर झंकृत होने वाले जीवन के तेजोमय गेय, नक्षत्रों के अक्षरों से बनने वाली गुण-रत्नों की आलोक–किरण–मालिकाएँ, अंतर के प्रदीपों से उदभूत सात्विकता के समुन्नत दीप-स्तंभ, पर-हित-सरिताओं की सरसराती नाद-माधुरी, स्नेह के सामने सहर्ष सर नवाने वाले आदर्श जीवन-प्ररूप, तारों को दुह कर दिव्य आलोकामृत संचित और वितरित करने वाले प्रकाश के प्यासे पुरुषोत्तम आदि कवि के काव्यांश जीवन-मार्ग के अत्युन्नत सोपान हैं ।

जीवन की पूर्णता के लिए देश के ही नहीं, विश्व के भी विविध प्रान्तों के जीवन-विधानों और विभिन्न भाषा-साहित्यों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान

अनिवार्य है। इसी सदुद्देश्य से प्रेरित हो कर मैं ने प्रसिद्ध तेलुगु कवि डा. जे. बापुरेड्डी जी के "**श्रीकार शिखरं**" नामक तेलुगु काव्य का हिन्दी में अनुवाद किया। बृहत भारतीय संस्कृति की इस काव्य-धारा में यत्रतत्र तेलुगु संस्कृति का भी मनोहर रंग मिला हुआ है। सुकुमार दार्शनिक भावों के काव्यमय समाहार "**श्रीकार शिखर**" से बहने वाली-हिन्दी में रूपान्तरित तेलुगु भाव-गंगा हिन्दी भाषी सामाजिकों के हृदय-क्षेत्रों को सरस-आर्द्र बना सके तो मैं अपने इस लघु प्रयत्न को सफल मान लूंगा। इस अनुवाद-कार्य के लिए अपनी सम्मति देने के हेतु डा. जे. बापुरेड्डी जी का, अमूल्य 'आशंसा' देकर कृति का स्तर बढाने के कारण डा. भीमसेन निर्मल जी का, गणनीय 'अभिमत' द्वारा मुझे प्रोत्साहित करने के कारण श्री तेज वहादुर सिंह गौतम जी का, अपनी अद्वितीय 'दो बातें' लिख कर इस काव्य-शिखर पर अच्छा प्रकाश डालने के कारण श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति जी का मैं आभार मानता हूँ।

विजयवाडा–4,
13–1–1987.

–अन्नपुरेड्डी श्रीरामरेड्डी

आशंसा

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् समालोचक जांनसन का कथन है कि Poetry cannot be translated In its own language. इसका तात्पर्य यह है कि एक बार लिखी गई कविता में जो भाव सौंदर्य है, जो शब्द-समन्विति है और जो नाद-लय का प्रवाह है, उसे उसी भाषा में, उसी प्रकार अभिव्यक्त कर पाना असंभव है। कविता केवल भाव नहीं, केवल शब्द नहीं, केवल रीति, गुण, ध्वनि आदि नहीं है, वह इन सबकी समन्विति है, रसात्मकता है। अत: कवि के हृदय को जानकर, उसे तदनुरूप शैली में लक्ष्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर पाना असंभव नहीं तो श्रम-साध्य अवश्य है।

हिन्दी और तेलुगु के जाने-माने कवि और लेखक डा. ए. श्रीरामरेड्डी ने काव्यानुवाद के इस दुष्कर कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न किया है। तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं।

डा. जे. बापुरेड्डी पेशे से ऐ.ए.एस. अफसर होते हुए भी जन्मत: भावुक कवि हृदय रखते हैं। डा. बापुरेड्डी की कविताओं की विशेषता भावपक्ष की उदात्तता एवं कलापक्ष के सौंदर्य के अतिरिक्त नादात्मकता भी है। रेड्डी जी की कविता में गेयता प्रधान गुण है। इनके गेय रूपक तथा नृत्य-नाटक तेलुगु साहित्य जगत में पर्याप्त लोक प्रिय हैं। रेड्डी जी मात्र कवि ही नहीं, साहित्य पारखी विद्वान और गुणग्राही भी हैं।

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि डा. बापुरेड्डी जी के काव्य श्रीकार शिखरं का अनुवाद डा. अन्नपुरेड्डी श्रीराम रेड्डी जी ने 'श्रीकार शिखर' के नाम से प्रस्तुत किया है। डा. बापुरेड्डी की रचनाओं के लिए डा. श्रीरामरेड्डी का हिन्दी अनुवाद मानों सोने में सुगंध-सा बन पड़ा है।

मूल लेखक के भाव सौंदर्य तथा अभिव्यक्ति-कौशल को हिन्दी भाषा में, हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल प्रस्तुत करने में डा. श्री रामरेड्डी जी को अतीव सफलता प्राप्त हुई है। वे स्वयं जो कवि हैं!

प्रस्तुत अनुवाद-कार्य के लिए मैं डा. श्रीराम रेड्डी जी को हार्दिक बधाई देता हूँ।

आशा है, यह अनुवाद तेलुगु के सुप्रसिद्ध कवि डा. जे. बापुरेड्डी के काव्य-माधुर्य के आस्वादन में हिन्दी के काव्य रसिकों को समर्थ बना पाएगा। यही काव्यानुवाद की सफलता एवं सार्थकता है।

—डा. भीमसेन निर्मल

प्रो. एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

गान्धी नगर
हैदराबाद—500 380
12-7-86

दो बातें

तेलुगु के आधुनिक कवियों में डा. जे. बापुरेड्डी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'श्रीकार शिखर' आपकी तेलुगु कविताओं के संकलन का सफल हिन्दी रूपांतर है।

प्रकृति और पुरुष का रागात्मक संबंध या प्रणय सृष्टि का प्रेरक है। समाज के अन्य प्राणियों के प्रति सहानुभूति एवं उनकी तरक्की के लिए अनवरत प्रयास करने की प्रवृत्ति प्रगति का सूचक है। यह सारी सृष्टि किसी एक ऐसी शक्ति के द्वारा संचालित है जिसे भगवान का नाम दिया जाता है। उस अदृश्य शक्ति के साथ तादात्म्य भावना की स्थापना ही प्रणव है। इस 'श्रीकार शिखर' में संकलित कविताओं में "प्रणय, प्रगति एवं प्रणव" का सुंदर समन्वय दृग्गोचर होता है। मूर्त प्राणी और अमूर्त दैवी शक्ति की अभिन्नता की भावना ही अद्वैत-तत्व है। यह अद्वैततत्व मानस की गहराइयों में घर कर ले तो जनता और जनार्दन के साथ साथ, आदमी आदमी के बीच खडी दीवारें ढह जाएंगी। तब विश्व कल्याण की भावना उजागर होगी। श्री बापुरेड्डी की कविताओं का सार यही है।

श्री बापुरेड्डी सफ़ल साहित्यक ही नहीं, बल्कि समर्थ ऐ,ए.एस. अफसर भी हैं। सुसंस्कृत भावनाओं के साथ साथ, जनता जनार्दन की सेवा की निष्ठा श्री बापुरेड्डी की विशेषता है। उनकी इन विशेषताओं को हिन्दी में रूपांतरित कर सारे भारत के सामने प्रस्तुत किया हिन्दी और तेलुगु के विद्वान, सरस्वती माई के वरदपुत्र डॉ. ए. श्रीरामरेड्डी ने। श्री रामरेड्डी के इस सफल प्रयास का स्वागत करता हूँ।

मेरा संपूर्ण विश्वास है कि श्री बापुरेड्डी की कविताओं का यह हिन्दी संकलन 'श्रीकार शिखर' हिन्दी जगत् को पसंद आएगा। भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य के ऐसे शिखर हिन्दी में बडी संख्या में दर्शन दें तो मेरा विश्वास है कि हिन्दी साहित्य की परिधि व्यापक ही नहीं होगी, बल्कि वह सच्चे माने में भारत भारती सिद्ध होगी।

—श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति
अध्यक्ष,
आन्ध्र प्रदेश हिन्दी अकादमी

हैदराबाद
ता : 12-1-1987

अभिमत

साहित्य के क्षेत्र में मुक्तक काव्य का अपना विशेष महत्व है। सर्वाधिक सरल, सरस और शीघ्र प्रभाव कारी विधा यदि कोई है, तो वह मुक्तक काव्य ही है। भारत की भाषाओं में ही नहीं, वरन विश्व की अनेक भाषाओं में मुक्तक काव्य अत्यधिक लोक प्रिय रहा है। जीवन में संस्कार प्रदान करने हेतु मुक्तक याव्य को सुगम एवं समर्थ साधन कहा जा सकता है। विश्व-वातावरण में निरन्तर घटित घटनाएं मुक्तक काव्य के अन्तर्गत भाव-व्यंजन प्रदर्शित करती हैं। मनस्वी-माधुरी चेतनागत भावों से जब संपृक्त हो जाती है, तो विभु व्यक्तित्व की साधना-धुरी स्वतः ही अनुभूति के सकारात्मक सोपान की साथी हो जाती है।

इस विशाल काव्य का अवलेकन करके हम समझने की चेष्टा में हैं कि डॉ० ए० श्रीराम रेड्डी ने अपने काव्य में मौलिक भाशों की अभिव्यंजना बडे सरल और सरस ढंग से किया है। तेलुगु साहित्य के प्रकाण्ड कबि डॉ. जे. बापुरेड्डी को यदि कवीन्द्र-रवीन्द्र कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी। उनमें सहज भाव-मौलिकता है, वे काव्य के क्षेत्र में रवि हैं। डॉ. ए. श्रीरामरेड्डीजी ने डा. जे. बापुरेड्डी के मौलिक भावों को ही तेलुगु काव्य से हिन्दी काव्य में रूपान्तरित किया है।

तेलुगु साहित्य सुसम्पन्न और धनाढ्य है, यह भारत की सारगर्भित प्राच्य भाषा है। इस भाषा के ज्ञान को डा. साहब ने अपने मौलिक रूपान्तर के माध्यम से उत्तर भारत तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है और तेलुगु साहित्य-गंगा को भागीरथी-गंगा की कड़ी के साथ जोड़ने का प्रयास उनकी राष्ट्रीय एकता का परिचायक है।

इस काव्य की शैली सरल और प्रभावोत्पादक है। भाषा सुनियोजित है और मौलिक भावों की विभिन्न दिशाओं से गुजरने वाली अनुभूति है। काव्य-क्षेत्र में "करके दर्शन सब देवालयों के" आखिर कवि को योगी होना पडा और वही योगी पाठकों के समक्ष अपने आत्मीय भाव प्रकट कर मानव गुण प्रदान कर रहा है। भावनाओं में विभोर होने वाले डा. ए. श्रीरामरेड्डी की

धारणाएं दृढ़ और अनुभूतियाँ गम्भीर हैं । यह काव्य एक ऐसा ही प्रतिबिम्ब है जो अपनी परिधि को पार कर वस्तुओं का प्रतिभान प्रस्तुत करता है ।

इस कव्य में विभिन्न विचार शीर्षकों पर 84 मुक्तक कविताएँ हैं जिनके द्वारा कवि ने अपने मौलिक विचारों का डा. जे. बापुरेड्डी की धारणाओं के साथ समन्वय स्थाति किया है । "नक्षत्र रूपी नयनों से, देख रहा है काल ! शून्य रूपी सागर को, शोध रहा है काल ! कवि कल्पना लोक में विचरण करता है– मिले या न मिले खोजना ही अनन्द है, पूरी हो या न हो, इच्छा करना ही जीवन है । मेरी समझ में–कवि की खोज या शोध में उसे कितनी सफलता मिलती है, इसका उसे कोई गम नहीं है । यह तो पाठक ही समझ सकते हैं । किन्तु मंजिल की जुस्तजू में-उसका कारवाँ तो है इसी आशा को लेकर कवि अनन्त लोक की मानवीय कल्पनाओं का स्वप्न देखता है । कवि की विचार धारा बड़ी अगाध है और जहाँ रवि-रश्मि नहीं पहुँच सकती है, वहाँ कवि की पहुँच होती है" यथार्थता का प्रमाण है ।

यह कितनी विडम्बना है कि सपनों में कवि और भगवान एक दूसरे से हिल मिल जाते हैं और पारस्परिक व्यथा-कथा समझते हैं, और स्वप्न को ही सच्चा मान कर कवि ने अपनी शंकाओं का समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया है। "देश ही भाषा है, काल ही भाव है– मेरे अनन्त काव्य के लिये ! मेरे अखण्ड गीत के लिये ! ... ... देश ही सागर है– काल ही वाहिनी है, मेरी प्रयोग नौकाओं के लिये ! मेरी प्रयाग– प्रदक्षिणा के लिये ... ... देश ही देह है– काल ही आत्मा है, मेरे भौतिक सत्यों के लिये ! मेरे कल्पित स्वप्नों के लिये !" कवि का हृदय काल्पनिक संसार का ही सिर्फ आनन्द नहीं लेता है, उसके हृदय में राष्ट्र भावना का प्रेम भी सन्निहित है ।

'सत्यों के मोती' काव्य शीर्षक में सत्य के आनन्द को कवि अथाह सागर में खोजता है और उसी सत्य के माध्यम से कवि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अनुभूति करता है । अपने विचारों की तरंगों में कवि असली मोती ढूँढ़ता है, किन्तु गिन नहीं पाता है–

> अणु अणु में खिलते,
> अगणित सत्य सुमन !
> गिनने में ही इन्हें,
> बीते शायद मेरा जीवन !

-o- -o- -o-

सत्य जो है वही,

स्तुत्य भी है सही-

स्तुत्य सत्यों के सुन्दरतम,

तोरण लगा कर सत्वर-

सरस लोकों का सादर,

स्वागत करता मैं सानन्द !

इसी लिये कवि सत्य जो है वही स्तुत्य भी है सही, को सुन्दरतम मानकर सानन्द उसका स्वागत करता है।

'वही गीत बार-बार, में कवि की अगाध दार्शनिक भावना का बोध होता है।

भाव-किरण जो भी हो-

उस नीरधि में ही घुस जाती !

राग-तरंग जो भी हो-

उस तोर पर ही पहुँच पाती !

सत्य के लिये खोजा तो- समाधान खोजने वाले समाधान देने वाले, तुम ही अतीत सत्य हो- उसी में कवि आनन्द, वेदना मृत्यु, शंका, समाधान की अनुभूति महसूस करता है।

इस काव्य में काव्य की आत्माभिव्यक्ति प्रयोजन-सापेक्ष्य लक्षित होती है। कवि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन वस्तविकता का आधार मानता है और अपने आन्तरिक भावों को बाह्य-रचनाओं द्वारा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। कहीं-कहीं कवि वक्रोक्ति उक्तियों द्वारा हमें सावधान करता है। यही उसके तीक्ष्ण बौद्धिक ज्ञान की विशेषता है। काव्य के अध्ययन से कहीं भी पुनरावृत्ति अथवा बोझिल अनुभूति प्राप्त नहीं होती है। निरन्तर प्रगति पथ पर बहता हुआ यह मुक्तक काव्य है जो पाठकों के मस्तिष्क में अमर छाप डालेगा। काव्य अलंकार की चमक-दमक से परे मौलिक भावों की अभिव्यंजना करता है। कहीं-कहीं कवि का मन अनन्त शून्य में स्वतंत्र विहार करता काव्य रसास्वादन प्रदान करता है, स्वतंत्र और निडर काव्य मनहर होता है और समाज को सत्मार्ग की ओर ले जाता है।

डॉ. ए. श्रीरामरेड्डी को मैं उनकी इस अमर हृति रचना के लिये बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन सामाजिक सुधार

और राष्ट्रीय एकता की धारा में जोड़ने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी साहित्य के भण्डार में अमूल्य ज्ञान निधि तेलुगु साहित्य की मणि भरते रहेंगे। उनके दीर्घ और आरोग्य-जीवन के प्रति ईश्वर से प्रार्थना है कि उनका मन मस्तिस्क सदैव उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर चलता रहे।

हम कहते हैं– विश्व प्रेम की धारा सदा बहाओ।
मानव में मानवता की मणियां सदा लुटाओ।
यही धर्म हो, यही कर्महो सत्वर हो अविचल वाणी
एक एक ग्यारह करके भारत को सबल बनाओ!।

विजयवाडा,
श्रीराम नवमी, 1986

तेज बहादुर सिंह गौतम 'मधुर'

SRIKARA SIKHARAM :
Devotional poetry with feeling

In this latest collection of his poems, Dr. J. Bapu Reddi has sought to give expression to profound feelings of devotion with intensity of feeling and clarity of vision. Emotional integrity is, the hall mark of devotional poetry and we have its unmistakable ring in all his poems, which display lyrical grace and charm of vivid imagery.

Many of the lyrics are addressed to Lord Venkateswara the favourite God of the poet. In varying moods of supplication, quest, enquiry, elation and ecstasy the poet offers tender flowers of devotion at the Lord's feet.

"My head is Tirumala
And you are its Lord
You are its refuge"

he exclaims and implores upon Him to come down from the din and bustle of the seven hills and reside in the silent sanctuary of his heart. He identifies Lord Venkateswara with the Truth and Love that transcend birth and death and establishes with it an intimate bond of kinship which snaps never.

In an interesting poem he describes himself as the darling child of three mothers and fervently invokes the gracious benedictions of wisdom, truth and prosperity.

In another poem addressed to Lord Narasimha of Simhachalam, the poet portrays him as the light of wisdom splitting and emerging from the petrified pillar of ignorance. When the ray of illumination flashes forth all shades of darkness flee and when the Sun questions where darkness is the poet searches for it in vain, in a symbolic lyric addressed to the Sun.

The lyric "Song of Light" affirms the poet's faith in the divinity of humanity and the humanity of divinity. He is convinced of the presence of an onlooker who is behind the world of the eye and the ear.

A new creative orientation is given to ancient myths to fortify the communicative force of aesthetic experience.

"My fancies are gopis.
In the pool of light
They entreat in nakedness,
The enchanting smile,
Of the ravisher of souls"

he says in the opening song. Invoking the grace of Rama of Bhadrachala the poet movingly remarks "Your abode is on the bank of the godavari of my agonies". and prays to the lord to ferry him across. In a lyric on Ranga-natha the poet portrays the immanent nature of divinity peeping through the painted veil of life. He feels the prese-nce in every blossoming flower, swaying wave and fanning breeze.

Though the poet addresses many of his lyrics to the deities of the Hindu Pantheon, thers is no narrow sactarian feeling in his poetry. He celebrates the universal aspects of truth, love and beauty which strike a responsive chord in all hearts. The absolute and all pervasive aspects of God are stressed in some lyrics in this collection which embodies the vision and wisdom which seeks to blend monism and dualism. The spiritual quest is linked with the creative urge of the poet who dreams of articulating his aspiration and dreams as long as he breathes. For him poetry, in the words of Ezra pound, is a ceaseless voyage from half-covered blindness to naked light. He asserts paradoxically that we gain when we set out to seek, that we taste fulfilment when we begin to yearn for an ideal. With an almost Socratic ring, the poet exclaims "I know only one thing/That I know not of one thing", reminding us of Omar Khayym who uttered in dismay, "There is a door for which I found no key/there is a veil past which I could not see".

This collection of poems manifests the spiritual aspect of Dr. J, Bapu Reddy who hitherto made a mark as a poet of love and progressive ideology. With commendable courage of conviction the poet boldly declares his faith in God in these days of rampant skepticism and fashinable rationalism. There is freshness, warmth and delicacy in his feeling-tone which is very rarely found in philosophical verse that tends to be vague and dull. As aptly remarked by John Keats, Axioms of philosophy must be proved upon our pulses". It is really surprising and laudable that a very busy Administrative Officer, J. Bapu Reddy finds time to remain an unwearied votary at the shrine of the Muse and regard poetry not as a pleasant pastime but an avenue of fulfilment for life's sublime aspirations and invincible yearnings.

Dr. AMARENDRA
(Indian Express
Vijayawada-3-1-1987)

शिखर के सोपान

–:o:–

नग्न मन

मेरी मनोभावनाएँ हैं गोपीजन !
मेरा कर्म–क्षेत्र ही है बृन्दावन !
मेरा जीवन है आनंद कृष्णार्पण !

चंचल है मेरा मन !
चंचल है मेरा कथन !

हलचल–गर्भित कर्म–योगांचल
बना हुआ है मेरा जीवन !

सुन्दर नाद–गगन में चल
शिव–सत्य खोजता यह जन !

मेरी भाव–गोपिका
नयनाश्रु–यमुना में
तैरती नीलिमा–बढ कर
बुलाती मुझे लीला बन कर !
वेदना के पत्थर छेदती
अनुराग मूर्तियां गढ देती !

नव कांति सरोवर में
नग्न बन मेरा मन
मांगता गोविंद से
आनंद–हासों को !
निवृत्त कर चुका इतने दिन बाद
निवृत्त न होने वाले संदेहों को !

–:0:–

कोहं कोहं

कोहं कोहं कोहं
कहते—
कोकिला नें किया प्रश्न !
सोहं सोहं सोहं
कहते—
शून्य ने दिया प्रत्युत्तर !

पता नहीं—काल कल्पतरु—
शाखाओं में छिपा कल कंठ कौन है !
मालूम नहीं—तारों के पंखों तले
दुबक रहा हुआ शून्यांड कौन है !

क्या प्रत्युत्तर—रहित प्रश्न केलिए
उत्तर ही—प्रश्न है !
'प्रश्न क्या है—उत्तर क्या है'
कैसे कहें हम !

प्रश्न और उत्तर—दो ही पात्रों का
अभिनय है नाटक !
आदि अंत बने—अंत बने आदि
यही है अच्युत 'नाटक' !

⁐0⁐

मूक योगी

कर के दर्शन सब मंदिरों के
पढ–पढ कर सब मदरसों को
क्या जान सका मैं ?
नहीं आता समझ में !

पुजारी जी–मंदिर के
पूछने नहीं देते प्रश्न कोई !
अध्यापक जी मदरसे के
समझ नहीं पाते भाषा मेरी !

मंदिरों ने सिखाया
मौन ही मौन !
मदरसों ने सिखाया
पठन ही पठन !

जो समझ लेना था...
समझ गया मैं मंदिर में !
समझ गया फिर मदरसे में
संभव नहीं समझना कुछ भी !

बन कर अंधा मंदिर में
हो कर बहरा मदरसे में
मूक बनने पर...
योगी हुआ फिर !

जंगलों ने मुझ से पूछा

जंगलों ने मुझ से पूछा–
गीत गाऊं एक मैं !
पहाडों ने मुझ से मांगा–
खेल खेलूं कई मैं !

क्या गीत गाऊं मैं
इस नदी तीर पर !
निरंतर बहती जन–व्यथा
सरिता–तीर पर !

क्या खेल खेलूं मैं
इन तिमिर–गिरि ढेरों पर !
तरुण आशा–आशय–
चिति–संध्या–शिखर पर !

छूते ही आर्त वेणु के
सूख जाते अधर मेरे !
हत जीवन–शिलाओं पर
रुक जाते पैर मेरे !

जंगलों को क्या मालूम–
क्षुधित कृष्ण हूँ मैं !
पहाडों को क्या पता–
व्यथित शंकर हूं मैं !

–(.)–

मृदंग कोई मेरे मन में

मृदंग कोई मेरे मन में...
मुरली कोई मेरे दिल में...
बज रहा है बराबर !
झूल रही है निरंतर !

लडरवडाते पैर ही मेरे–
तांडव–नृत्य करते हैं !
कांप उठते होंठ ही मेरे–
प्रणव–मंत्र गाते हैं !

छू लेता मैं शिला जो भी
हिम–गिरि बन जाती है !
देखता मैं कोई सपना
वास्तव बन जाता है !

मुट्ठी में त्रिलोक भी
बन जाते हैं त्रिशूल महान !
चितवनो में त्रिकाल फिर
बन जाते हैं चक्रवर !

शंकाएं सभी–बनतीं
नाद–वेद–शंख सही !
राहें सभी जीवन की
पहुंच जातीं यमुना तीर पर ही !

–:०:–

सूरज मेरे घर

मेरे घर में सूरज ने
पूछ लिया घुस आ कर–
'कहां है तिमिर फिर ?'
रह गया मैं शरमा कर !

बताया मैं ने धीरे-धीरे...
यहां आने तक तुम्हारे
वह साथ ही था मेरे
आते देख तुम को फिर...
गायब हो गया वह सत्वर !

बोले वे आभा वाले–
तिमिर-तिमिर कह चिल्लाये !
मगर पूछने पर तुम
दिखा नहीं सके तम !'

झेंपते-झेंपते बोला मैं–
'न तो पता मिला तुम्हारा
और न पहचान हुई मेरी

किसी का ज्ञान न कराने वाली
अजीब स्थिति को मैं
तिमिर न मानूं तो शिव कहूँ चिर ?

मुसका कर बोले मरीचिमाली–
'मूंदे हुए हो आंखें अपनी
भ्रम में पडे तो–है सर्वत्र अंधेरी
आंखें खोल कर–मुझे देखकर
देख नहीं सकते तुम तिमिर !'

–:०:–

ज्ञान सूत्र

जब कह सकता हूं–'मैं नहीं कह सकता'
तभी–तुम्हारी प्रशंसा पाऊंगा !
जब तक मैं कहता ही रहता
गलतियां हों–तो मान लूंगा !

कह रहा हूँ वही बात बार–बार
कर रहा हूँ वे ही गलतियाँ हर बार
क्या तुम कह सकते नहीं–
कहना ही मेरी गलती नहीं !

मुझे एक ही बात मालूम है न !
और वह भी–एक ही है जो मुझे मालूम नहीं !
मुझ में यह कहने की भी अकल नहीं–
'मुझ को कुछ भी मालूम नहीं !'

मैं तो कहे बिना रह नहीं सकता
यह जान कर कहते हो मुझ से तुम–
गलतियां भी क्यों न हो–कहता ही रहूं मैं !'
क्या तुम यह जानने का 'ज्ञान–सूत्र'
नहीं बता सकते–'गलत क्या है ?
फिर सही क्या है ?'

कैसे जीना है फिर

मालूम नहीं–कैसे जीना है फिर
इस माया मय लोक में ?
'है' कहते मैं दौड पड़ूं तो-
रीढ की हड्डी टूट जाती !
'नहीं' कहते तर्क करुं तो–
जो है वह भी छूट जाती !

मन कहता–तन नहीं–तो
बुद्धि कहती–मन नहीं–तो
आत्मा कहती–वह भी नहीं–तो
नहीं समझ कर 'क्या फिर क्या है ?
राख में धंसता जा रहा हूँ !

कहते हैं–अबोध शिशु हैं पंचेंद्रिय
उपयोगी नहीं पदार्थ ज्ञान
असली सत्य आत्मा को ही है मालूम
'फिर आत्मा क्या है ?'–मैं नहीं जानता !

कहते हैं—हमें नहीं पूछना है—
'अवधि—रहित अनंत कितना है ?'
कहते हैं—'उतने इतने' की अवधियों का
अंत करने वाला अनंत तो अनंत ही है !

कहते हैं—हर पैदा हुए का मरना सच है
हर मरा हुआ फिर पैदा हो सकता है
कहते हैं—जन्म मरण—रहित एक ही है
वह स्वयंभू है—वह फिर संभव ही है !

—:०:—

आखिरी सांस तक

आखिरी सांस तक...
तुम्हारा गीत ही गाते रहूंगा !
सांस रुक जाये...तो...
मैं खुद-तुम्हारा गीत-हो जाऊंगा !

भाषा तो एक ही है
परिभाषाएं भिन्न हैं !
भाव भी एक ही है
प्रभाव फिर भिन्न हैं !

बार-बार वही गीत गाता रहा...
फिर भी वह कभी पुराना नहीं होता ।

गाने का ढंग रहा वही
गीतो में- पदों में-
उद्‌भूत प्रभा अलग है
प्रसारित प्रभा अलग है !

मेरी सांस ही मेरा गीत है
मेरा गीत ही मेरी सांस है

यह प्राण का दीप
है तुम्हारे नूर का रूप !

-()-

शारदा ने जन्म दिया हो

शारदा नें जन्म दिया हो
मुझ को–
शैलजा नें गोद लिया हो
मुझ को–
लक्ष्मी अब तो अपना रही है
मुझ को–

मालूम नहीं–माताएं तीनों
मुझे अपना लाल मान कर
एक साथ रिझाएंगी !
या आपस में झगड लेंगी !

एक माता के चेहरे में
एक और माता दिखती
कोई भी माता हो–मुझे
अपनी ही माता लगती !

एक मां का दिया हुआ फिर
एक और मां को देते–देते
खेलता रहता हूँ–मैं
सत्याकाश–सरोवर में !

पता नहीं– शिक्षा देनें वाली मां
शक्ति देनें वाली मां
शायद आनंद–लक्ष्मी को
सौंप देंगी मुझ को फिर !

–:0:–

क्या कहा तारा-कन्या ने

क्या कहा तारा–कन्या ने
क्या कहा ? क्या कहा ?

आंख मार कर मुझे
आसमान में बुलाया !
कहा– फिर कितने दिनों तक
हमारे बीच हो वियोग यह !?

कहती– मैं नरवर हूँ तो
वह तारा–वधू है !
नर–नक्षत्र प्रणय तो
नव प्रणव का प्रभव है !
कहती– मैं तो उस की भाषा हूँ
वह फिर मेरा भाव है
भाषा–भावों की...
परिणति ही आनंद है !

मैं ने अपने को 'श्रीकार' माना
उस ने अपने को 'ओंकार' कहा
फिर कहा–तुम्हारे मेरे मिलने से
होगा आविष्करण सत्य का !

वह कहती–रक्षा रहित सृष्टि में
रक्षक हैं कौन बढ कर हम से
सब दिशाओं केलिए तो
हम स्वयं रक्षक हैं–आलंबन हैं !

–:o:–

सत्य से

सत्य से मैं ने...
बिताया दांपत्य–जीवन !
नित्य दिया मैं ने...
एक भाव–मुत्य को जन्म !

सत्य से मेरा प्रयोगात्मक
योग दांपत्य–जीवन
प्रदान करने वाली संतान
एक अनंत है–एक दैवत्व है !

लाल दोनों भी–हमें बराबर
रिझा देने वाले ही हैं फिर !
खेलते–गाते रहते हैं...
प्रसन्नता से–अपने आप ही !

अंतर्मुखी बन कर एक
आत्मा से खेल लेता–
बहिर्मुखी हो कर एक–
पदार्थों का गुण–गान करता !

पूछे कोई–इन दोनों में...
'तुम को है कौन अधिक प्यारा ?
ढुलकते फिर जवाब में–
आनंद के अश्रु... !

मेरा सिर तिरुमल है

मेरा सिर तिरुमल है
पति तुम्हीं हो उस के
मेरी सदगति तुम्हीं हो स्वामी !

नवा नहीं सकता उसे
दुर्वांछाओं के सामने
उतार नहीं सकता तुम्हें
पराधीनता की परिधि में !

चाहे हम चढें सात पहाडों पर
या और कितने ही पहाडों पर–
कहीं भी मिलने वाला तो
इस सिर जितना पहाड ही है !

मेरा सिर, तुम्हारे पैर
इस ढंग से मिलने पर
जड–चेतनों में छिपे
जीवन–सत्य चमक उठते !

तुम को मालूम है सदा–
मुझ को मालूम है अब–
तुम्हारा और मेरा मूल
'श्रीकार' एक ही है !

–:०:–

सिंहाचल शिखर

सिंहाचल शिखर पर
चल पडा
नरहर को अपने में देख कर
हंस पडा !

श्रीपति के वीरावेश का
रूप देखा
दीन जन प्रह्लाद का
दीप देखा
सिंहाचल शिखर पर चल पडा...

शीतल चंदन–चर्चित
श्रीराग सुना
जर्जर जीवन–
क्रांति–गर्जन सुना
नरहर को अपने में देख कर हंस पडा...

स्तम्भित
अज्ञान–स्तम्भ में से
गरज उठते
प्रज्ञान–सिंह को देखा
सिंहाचल शिखर पर चल पडा...

देह का विस्मरण कर के
'सोहं' कहा
मोह का अहं त्याग कर
'दासोहं' कहा !

सिंहाचल शिखर पर चल पडा
नरहर को अपने में देख कर हंस पडा...

है तुम्हारे हाथ में

है तुम्हारे हाथ में चक्र
पकडा हुआ है मुझे
दुराचार–नक्र !

भाषा निगल रही है
मेरे भाव को
आशा हडप रही है
मेरे आशय को–

पद घुसेड देते
मेरी शिक्षाओं को
स्वार्थ समाप्त कर देता
मेरे ज्ञान को–

अहं के मुंह फंसा
सोच–विचार
डर के हाथ मरा
विवेचन–

सोचा–जो है
गायब हो गया
सोचा–जो नहीं
दिखाई पड रहा है !

–(.)–

तुम्हारी बात ही सच्ची है

तुम्हारी बात ही सच्ची है !
मेरी बात हंसी–मजाक है !

मैं जो भी गीत गाऊं–
तुम्हारा गीत ही बन जाता !
मैं जो भी रास्ता अपनाऊं–
तुम्हारा रास्ता ही हो जाता!
कौन–सा गीत मेरा गीत है रे !
कौन–सा रास्ता मेरा रास्ता है रे !

मैं हूँ तुम्हारे अंदर
तुम हो मेरे अंतर
सर्वत्र, सब में फिर
अक्षरता ही जब हुई स्थिर
ये संकट क्यों रे !
ये शंकाएं क्यों रे !

अपने ही अनुकूल
अर्थ बता कर
अर्थ नहीं लगता जब
व्यर्थ कह टाल कर
कितने दिन ऐसे बिताऊं रे !
असली बात कौन बताये रे !

–:०:–

सप्त गिरि शिखरों पर

पता नहीं–सप्त गिरि शिखरों पर
क्या जादू फैला हुआ है चिर
दिल मेरा वहीं पर...
गडा हुआ है निरंतर !

फैले कोई हलचल...
'गोविंद !' कहता मेरा दिल !
जब न रहा कोई रास्ता
'तिरुपति !' कहता मन मेरा !

सर्व शक्तियों का मूल
भक्ति ही को मानता
प्रगति–यात्रा–रथ–
प्रणव ही को मानता !

दिवि–भुवि में...सर्वत्र व्याप्त
दीप एक ही है विख्यात
यह चराचर सृष्टि समस्त
श्रीचक्र–गति में है आश्वस्त !

इन मायावी मनुजों से
भौतिक शाब्दिक जीतों से
निश्शब्द शून्य तल पर
ठहरना ही बढिया हो फिर !

⊙

नयन मूंद सकूं तो

नयन मूंद सकूं तो–
क्या नहीं दिखायी पडता !
कान बंद कर सकूं तो–
क्या नहीं सुनायी पडता !

नयनों को दिखनेवाला पूरा
कांति–भ्रांति ही तो है !
कानों में गूंजने वाला सारा
शब्दाभास ही तो है !

हमारा देखा हुआ–सा नजारा
शून्य बन जाता बिचारा !
हमारा सुना हुआ–सा जो है रव
पागलपन जैसा ही– लगता !

दिखायी पडेगा मूल तिमिर
मुकुलित नयनों को !
सुनायी पडेगा निश्शब्द स्वर
निद्रित कानों को !

–:०:–

प्रश्न करना एक भ्रम है

प्रश्न करना एक भ्रम है
प्रत्युत्तर भी एक भ्रम है
प्रश्न और प्रत्युत्तर रहित
परवशता ही प्रमा है !

प्रश्न कर के–कर के
प्रस्तर बन जाना क्यों ?
प्रत्युत्तरों के लिये
प्रयास करना क्यों ?

जाना हुआ कौन है ?
जानने वाला कौन है ?
जाने हुए का पता
जानने वाला कौन है ?

पूछा जाने वाला प्रश्न ही
जब समझ में आता नहीं–
'समझ में आया उत्तर'
यह सोचना भी है बेकार !

देह पग–पग पर
संदेह से लडखडाती
'हां-नहीं' कहते अंदर ही अंदर
गडबडी–सी सुनाई पडती !

(○)

वाणी को अपनी रानी मान कर

वाणी को अपनी रानी मान कर
विवादों में क्यों उलझूं मैं ?
वर वीणा पाणिनी वाणी ही
जब मेरी वाणी बनी हुई है !

'त्वमेवाहं' कह कर–
झगडों में क्यों फंसूं मैं ?
तनु रहित वही–मेरे तन में–
जब समा गया है !

देश और काल को
अलग–अलग क्यों देखूं मैं ?
प्रकाश को दीप से
अलग करना जब असंभव है !

भाव–भौतिकों का
विभाजन करने वाला पागल नहीं मैं !
भाव ही भौतिक हो
उद्भासित होने वाला रूप हूं मैं !

जनन और मरण मुझ से
जुडे हुए सत्य ही हैं–
मेरे अनंत जीवन–रथ के
शाश्वत जवनाश्व ही हैं !

–:(०):–

बडी हलचल

बडी हलचल भरे
सप्त अचलों पर
कैसे रहते हो तुम
हे ! बालाजी !

किसी गडबडी से रहित मेरे
दिल में निवास करो रे !
किन्हीं भंवरों से रहित मेरे
मन में सुख से रहो रे !

चाहो–तुम जब जहां
जो भी करो रे–
छुप–छुप कर मेरे दिल के
घोंसले में ही पहुंच जाओ रे !

तुम्हारा तत्व-ज्ञान
यदि जगा देगा मुझे–
मेरा सत्य–गान
चलायेगा रे तुम्हें !

कौन हो तुम–कौन हूं मैं
प्रकाश–छाया के सिवा !
मुझे तुम नहीं छोड सकते रे
तुम्हारा स्तोत्र मैं नहीं कर सकता रे !

-:o:-

श्रीकार ओंकार

श्रीकार–ओंकार
शिखरों के ऊपर
शिव तांडव करूंगा मैं
विप्लव तांडव करूंगा मैं !

नर–शक्ति और सुर–शक्ति
मेरी शक्ति ही में बदल कर
मेरे अंदर प्रतिध्वनित होने पर
मेरे साथ नर्तन करने पर
श्रीकार–ओंकार...

तत्व और तर्क
योग और प्रयोग
मेरी भाषा बन जाने पर
नाद–वेद होने पर
श्रीकार–ओंकार...

नवग्रह–मृदंग
नक्षत्र–डमरू
भ्रमज व्यथाओं को मिटाने पर

प्रमाज मोद को प्रदान करने पर
श्रीकार–ओंकार...

देश और काल–मेरी
देहात्माएं बन जा कर
सत्यों को उपजाने पर
सुखों को बरसाने पर
श्रीकार–ओंकार शिखरों के ऊपर
शिव तांडव करूंगा मैं-विप्लव तांडव करूंगा मैं !

–:o:–

सत्यों के मोती

पिरो कर सत्यों के मोती
मालाएं बना रहा हूं !
आनंद के बाजार में
निरंतर बेच रहा हूँ !

गिन नहीं पाता मैं-
कितने... कितने सत्य हैं !
कितनी भी मालाएं मैं बनाऊं-
पर्याप्त नहीं पा रहा हूँ !

अणु-अणु में खिलते
अगणित सत्य-सुमन !
गिनने में ही इन्हें
बीते शायद मेरा जीवन !

पता नहीं-क्या कैसा सत्य है
कौनसा असली मोती है !
न कह सकने की स्थिति में
चकित हो जाता मैं !

सत्य जो है-वही
स्तुत्य भी है सही !
स्तुत्य सत्यों के सुन्दरतर
तोरण लगा कर सत्वर
सरस लोकों का सादर
स्वागत करता मैं सानंद !

-:o:-

एकांत

एकांत मुझे बहुत ही
डरा देता है
अभियोग बताये बिना ही
कैद करता है !

वैचारिक कोलाहल
वारिधि में छिपे हुए
लीला-कण मुझे
पता नहीं—कैसे पहचाना
एकांत ने !

कदम न बढा सकने वाले मुझे
आकाश—पथों पर...
तारों के देख हंसने पर
विवशता से घुमाता है
एकांत !

कान बन्द किये हुए मुझे—कोई
शंख—ध्वनि सुना देता

नयन मूंदे हुए मुझे–कोई
सपनों के लोक दिखाता
एकांत !

इस अनंत सृष्टि में
'सत्य क्या है ? क्या सत्य नहीं ?'
'कहो–कहो' कहते मुझे
कहने तक सताता है
एकांत !

⊙

पत्थर पत्थर में

पत्थर–पत्थर में, मैं
सृष्टि–रहस्य को खोज रहा हूं
पेड–पेड में, मैं
मिट्टी का भेद शोध रहा हूँ !

पहाडों पर–घाटियों में, मैं
पागल बंदर बन घूम रहा हूं
दिन रातों के पंख लगा कर, मैं
पक्षी जैसे उड रहा हूं !

मीन–नयन–पुतली बन, मैं
सिन्धुओं को मथ रहा हूं
सुम–हृदय–सुगंध बन, मैं
पवन को छान रहा हूं !

तारों से–शून्य से, मैं
बन्धुत्व निभा रहा हू
मानव को–दैव को, मैं
एक ही मात्रु भाषा सिखा रहा हूँ !

खोजा जाने वाला जो भी हो

खोजा जाने वाला जो भी हो
खोजने वाले ही हैं सब
इच्छित वस्तु जो भी हो
इच्छा करने वाले ही हैं सब !

वह खोजा जाने वाला क्या है ?
वह इच्छित वस्तु क्या है?
सब सब से पूछते हुए
सदा खोजते रहते हैं !

जानते हुए भी कि वह नहीं मिलता
दौडते हैं मानों वह मिल गया हो
जानते हुए भी कि वह पूरी नहीं होती
बैठ जाते हैं मानों वह पूरी हो गयी हो!

मिले या न मिले...
खोजना ही आनंद है–
पूरी हो या न हो...
इच्छा करना ही जीवन है !

खोजने पर न मिलने वाला नहीं
इच्छा करने पर पूरी न होने वाली नहीं
खोजना ही मिलना हो शायद
इच्छा करना ही पूरी होना हो शायद !

–:(०):–

चांदनी की सेज पर

चांदनी की सेज पर
पीठ के बल लेट कर
सुंदर ताराओं से
दिल्लगी करुं मैं !

ताराओं को देखते ही
दिल चांद बन जाता
अंधेरी गलियों में
कोई श्रृंगार सुलगाता !

आसमान की ओर देख–देख कर
जमीन की बात भूल जाता
अंतहीन नीलिमा में फिर
अजीब पक्षी बन जाता !

अनुभूति के बीच में आ कर
विचार विकराल बन जाता
विचार को पार कर
अनुभूति सुगंधित बन जाती !

आसमान के सौंदर्यों को
जमीन पर छिडक दूं !
मिट्टी के गोल को, मैं
तारा–मंडल तक उठा दूं !

(○)

सपने में भगवान

सपने में भगवान और मैं
हिल-मिल गये !
पारस्परिक व्यथा-कथा
हम समझ गये !

आपसी प्रशंसा के
पुल बांध कर हमने
कर ली निन्दा
अपने आप ही !

मैं ने कहा-तुम सागर हो
वे बोले-तुम जलद हो
मैं ने कहा-तुम वाहिनी हो
वे बोले-तुम वारिधि हो

मैं ने कहा-तुम अनंत वेदी हो
वे बोले-तुम अनंत वादी हो

पूछा मैं ने असली रहस्य
वे बोले—वह मुझे भी नहीं मालूम !

‘चाहे तुम हो या मैं
जो भी हों रूप हमारे
अवश्य हैं हम सब
समाधान चाहने वाले पृच्छक !
यही सत्य दोनों ने जाना
सपने को ही सच्चा माना !

रस्सी को सांप मान कर

रस्सी को सांप मान कर
मत मर जाओ रे !
सांप को ही रस्सी बना कर
जी जाओ रे !

पत्थर को दैव बना कर
मानव की बलि मत दो रे !
मानव को दैव बना कर
जडता को छेद दो रे !

सूरज की गरमी को मापने वाली
नजर है तुम्हारी
हिमगिरि का हृदय गढने वाली
कुशलता है तुम्हारी !

तुम्हारी अनल्प भावना में
यह अनंत सृष्टि जनमती
तुम्हारी जयपराजयों में
यह जगत बनती, मिटती !

तुम्हारी भावना ही स्थिर
बन जाती है न भौतिक बन कर !
यह भौतिकता उड जाती है
तुम्हारी भावना बन कर !

-:o:-

रुकी रुकी

रुक गयी, रुक गयी
आटोम्याटिक घडी
क्षण–क्षण को गिन गिन कर
पल–पल को गांठ बांध कर
घंटियां बजाते घंटापथ पर
दौडते यात्री का काम समाप्त हुआ फिर !

पंख फैला कर दिन रात
अज्ञात दिशा–वलय में फंस कर
पूछा हुआ प्रश्न ही पूछते–पूछते
घूम–घूम कर चकरायी मति जब
रुकी रुकी आटोम्याटिक घडी !

दुपहर में, आधी रात में
कर दोनों–सिर पर जोड कर
'तुम ही रक्षक हो' कहते
दैव की मनौती करते

बढने वाला सुंदर करदीप
रुका बिचारा अब अचानक !

गये हुए रास्ते पर ही जा–जा कर
पहुंची हुई जगह ही पहुंच–पहुंच कर
वृत्त पुनरावृत्त को ही जीवन मान कर
पागलपन में घूमा–भटका यंत्र
जहां रुका–क्या वही गम्य है !?

तेजोमय गेय

तेजोमय गेय ही...
मेरे जीवन का ध्येय है !
मानव मन की शंख-ध्वनि
मेरे नवरसों का भाव है !

अदृश्य को दर्शाने वाला
अश्रव्य को सुनाने वाला
नित्य सत्य साहित्य
वास्तवानंद संगीत-गर्भित
तेजोमय गेय ही...
मेरे जीवन का ध्येय है !

नरों को सुर-सुरों को नर
दर्शाने वाला निराला
शब्द को निश्शब्द तत्व
निश्शब्द को शब्द स्वरूप
सिखाने वाला निर्मल निश्चल

तेजोमय गेय ही...
मेरे जीवन का ध्येय है !

जरा–मरण–रहित
दुराशा, लूट–मार से परे
गुरूता–न्यूनता–रहित
सभी दुःखों से दूर–मुखरित
तेजोमय गेय ही...
मेरे जीवन का ध्येय है !

–(॰)–

त्यागय्या ने गा लिया

त्यागय्या ने गा लिया
विचारों के तारों से–
अन्नमय्या ने खेल लिया
रागात्मक कल्पना से–

राग से रामय्या को
सत्वर मंगवाया !
वेदना से वेंकन्ना को
संतुष्ट कर दिया !

भक्ति–योग में ज्ञान–शक्ति को
शोधा–साधा !
कर्म–योग को बढिया धर्म
जाना–माना !

'छोडने पर आशाओं को
मिलने वाला नित्य है !

मूंदने पर आंखों को
दिखने वाला सत्य है !'
त्यागय्या ने गा लिया...

'जीते रहने तक ही
व्यथा–भवबन्ध हैं !
जीवन सरिता का अंत ही
सदानंद–सागर है !
त्यागय्या ने गा लिया...

●●

जन्म के समय से

जन्म के समय से तुम्हें
पकडने की आंख–मिचौली खेलते
सामने खडा रहा-पकडो कहते
मेरी आंखों की पट्टी
खोलनें वाले नहीं !

'पकडो' कहते आग्रह करते
प्यारे बच्चे तुम ही हो
'बांधो' कहते नयन मूंदते
उस्ताद अनोखे तुम ही हो
मानों पकड नहीं पाते–
दौडे हुए पक्षी तुम ही हो
'पाओ' कहते खडे होते
'विराट' रूप तुम ही हो !

खेल कहें तो मामूली खेल नहीं
बात कहें तो समझ पडती बात नहीं
राह कहें तो किसी दिशा की राह नहीं
उलझनें कई बढा कर तुम मिल जाते हो
मिल जाते-जाते शिखरों पर चढ जाते हो!

मायावी! मालूम हुई तुम्हारी मायाएं सब
स्वीय नाटक के-कर्ता, कर्म, क्रिया-तुम हो अब
देखने माया को-भौतिक नयनों को
मूंद लेना है क्या ?

न खुलने वाले आंतरिक
किवाडों को खोलना है क्या ?
आंखें मूंद लें या खोल लें
तुम नहीं दिखाई पडते !
दीखने के लिए चाहिए जो आँखें
दीखती नहीं !

—:०:—

देश ही भाषा है

देश ही भाषा है–
काल ही–भाव है–
मेरे अनंत काव्य केलिए !
मेरे अखंड गीत केलिए !

देश ही–मशाल है–
काल ही–कांति है–
मेरी नव साहस यात्रा में !
मेरे तिमिरार्णव मथन में !

देश ही घोडा है–काल ही मैदान है
मेरे विचारों की होडों केलिए !
मेरी बातों के घुड–सवारों केलिए !

देश ही सागर है–काल ही वाहिनी है
मेरी प्रयोग–नौकाओं केलिए !
मेरी प्रयाग–प्रदक्षिणा केलिए !

देश ही फूल है–काल ही गंध है
मेरे विचारों के उपवन केलिए !
मेरी अनुभूतियों के वसंत केलिए ।

देश ही देह है–काल ही आत्मा है
मेरे भौतिक सत्यों केलिए !
मेरे कल्पित सपनों केलिए !

–:o:–

सप्तगिरि शिखरों पर ओह

सप्तगिरि शिखरों पर–ओह
कितनी सुंदर घाटी है !
घाटी के गर्भ में तुम्हारा मंदिर
अज्ञात गहराई की लोक-माया है !

सब पहाडों को माप–माप कर
मन में मंदिर बना लिया
घाटियां सब छान–छान कर
अपने में ही तुम को पकड लिया !

सब गंगाओं को मिलाये–लाकर
आकाश गंगा को बना लिया
परम सेवा–भावों से...
पाप–नाशन–पथ गढ लिया !

सब माताओं से पूछ–पूछ कर
'मंगम्मा कौन है ?'–समझ लिया
सब शंकाओं को छोड–छोड कर
'सत्य क्या है ?' –जान लिया !

–:०:–

मेरा सर देख कर

मेरा सर देख कर
सर हिलाते हैं–
पूंछ देखते ही
दुम दबा लेते हैं !

सर पर खेलते
शिव सौन्दर्य को
मेरा न मान कर
आदर करते हैं !

पूंछ पर लगे
लोकाचार को
मेरा ही मानकर
डर जाते हैं !

'सर किस का है ? पूंछ किस की है ?'
समझाने में ही मेरा सर पक गया !
'सर–पूंछ' न जानने वाले मूढ़ों के हेतु
तारक हो कर मेरी पूंछ नाच उठी !

'माथे की रेखाएँ हाथों में हैं'–
यह बोलने वाला सत्याचल ही मेरा सर है!
'पूंछों के व्यवहार ही हमारे सरों को
जला डालते हैं'– यह कहना मेरी कला है!

मेरा चर्म चक्षु

मेरा चर्म चक्षु दिद्रुक्षु है
मेरा मर्म चक्षु मुमुक्षु है !

देखा हुआ ही देखता सदा
न देखा हुआ-सा ही-
चाहा हुआ ही चाहता सदा
न चाहा हुआ-सा ही !
मेरा चर्म चक्षु दिद्रुक्षु है
मेरा मर्म चक्षु मुमुक्षु है !

देखने जाता-
न देख पडने वाला कौन-सा है ?
फिर ऐसे देखता-
देखने और दीखने वाले एक हो जाते !

देखा हुआ ही न देखा हुआ-सा
लगता है क्यों ?
देखे बिना ही देखी हुई-सी
अनुभूति यह क्यों ?

नयन और नयन में भेद है
दोनों को तोलने वाली दृष्टि साथ है
मेरा चर्म चक्षु दिद्रुक्षु है
मेरा मर्म चक्षु मुमुक्षु है !

-:0:-

सब की पहुँच से दूर

नहीं आ सकते कोई चढ कर–
इसीलिये तुम चढे सप्त गिरि शिखरों पर !
कोई तुम को पहचान नहीं पाते–
इसीलिये जड रूप धारण कर बैठे !

अंतरिक्ष शिखर पर
कांति-गोलों के उस पार
चिद्विलास दर्शाते तुम्हें
हृदय–वीथि में बसा चुका मैं !
यह ऊंचाई भी क्या ऊंचाई है !
नहीं जानते शायद मेरी सत्ता !

जिस रूप में भी हो तुम–
तुम्हारा रूप पहचान सकने की
मेरी नयन–कांतियों में
यह ऊंचाई क्या बाधा बनती !

क्या ये परदे टिक सकते हैं ?
क्या तुम्हारे बहाने चल सकते हैं !

अप्राप्त को खोजने वाला

अप्राप्त को खोजने का
दोष जो है मेरा !
अतृप्त को चाहने का
अपराध भी है मेरा !

सज़ा चाहता रहता मैं–
नहीं देते सज़ा कोई !
रक्षा चाहता रहता मैं–
नहीं करते रक्षा कोई !

अप्राप्त रहना ही–
सज़ा मुझ को हो शायद !
अतृप्त रहना ही–
रक्षा मेरी हो शायद !

बार–बार चाहना वही
इच्छा की पूर्ति है क्या !?
हर बार खोजना वही
प्रकाश की प्राप्ति है क्या ! ?

कभी न बुझने वाली प्यास
बुझा लेने के विश्वास में !
अप्राप्त जीव–झरी में
डुबकियाँ लगा रहा हूँ मैं !

नक्षत्रों के अक्षरों से

नक्षत्रों के अक्षरों से
शून्य के कागज पर
पता नहीं—किस कवि ने लिखा
यह अनंत काव्य !

बाएँ से दाएँ की ओर हो
दाएँ से बाएँ की ओर हो
नीचे से ऊपर हो
ऊपर से नीचे हो
किस ढंग से पढना हो
इस तारा—काव्य को !

वर्ण क्या हो, पद क्या हो
वाक्य क्या हों, घटना क्या हो
किस चिह्न का क्या अर्थ हो
किस का क्या समन्वय हो

मालूम नहीं पडता–क्या लिपि हो
इस लीला–ग्रन्थ में !

क्या मात्रा हो, क्या गण हो
क्या राग हो, क्या ताल हो
क्या श्रृति हो, क्या गति हो
क्या भाव हो, क्या रस हो
क्या छंदोबंधन हो
यह सृष्टि–संगीत !

⊙

मेरा हाथ तुम्हारे हाथ में

मेरा हाथ है तुम्हारे हाथ में
मेरी नजर है तुम्हारी चितवन में
लेकिन तुम मुझे नहीं दीखते
बरामदे में ही रह बहुत दूर हो जाते !

हाथ मिले–किन्तु
चेतना अलग हो शायद
दृष्टियां वे ही हैं–फिर भी
देखने के दृश्य अलग हों शायद !

हाथ का सहारा तो देते हो
मगर काम नहीं कर देते हो
दृष्टि देते हो–
किन्तु–दिखाते नहीं शायद !

मेरी चाल में ही
अपनी चाल बढा कर
मेरी नजर में ही
अपनी चितवन फैला कर
क्या तुम साबित नहीं कर सकते–
"तुम–मैं..एक हैं !"

–:0:–

चिद्रूपधारी

चिद्रूपधारी
लसद्रूपधारी
रूप गुण–रहित
पूर्वापर मुरारी !
कैसे दर्शन करूं तुम्हारे !
क्या मांगूं तुम से !

मेरे नयन देख नहीं सकते
ऐसा सघन तिमिर हो तुम–
कोई नयन देख नहीं सकते
ऐसा कांति गोल हो तुम–
प्रकाश–तिमिर के बीच
विचित्रता ही मैं हूँ क्या !

तुम नारायण हो कि
मेरी बात नहीं सुन सकते
मैं नर काया धारी हूँ कि
तुम्हारी बात नहीं समझ सकता

तुम्हारे और मेरे बीच
निश्शब्द ही है क्या ?!

मालूम नहीं–क्या पूछने लायक है
या पूछने लायक नहीं–
पूछे बिना–आगे
कदम नहीं बढा सकता
पग–पग के बीच
शंका क्यों हो फिर ?!

———

अनंतगिरि पर

मेरे दिल ने अनंत गिरिपर
अनुभव किया है आनंद !

श्रीगिरि शिखर पर पहुँच गया
शिखा में शशि को धारण किया
लिंगापुर में बसेरा बना लिया
दुःखों को नहर में फेंक दिया !

शंभु के मंदिर में प्रवेश किया
दंभों को फिर छोड दिया
सिद्धों का शहर चाह लिया
श्रीशाला में मुकाम बदल दिया !

हुआ पुलकित पशुपति होकर
गीत गाये गांवों के–
करि नगर को देख लिया
मुनि जन से मैं जुड गया !

–:o:–

दैव को खोजने वाले

दैव को खोजने वाले
दीप ही हैं क्या
नवग्रह सभी
नक्षत्र सभी !

अंतरिक्ष के कुहर में
फैले हुए तिमिर में
आदि–अंत–रहित
अस्तव्यस्त आवरण में
दैव को खोजने वाले दीप ही हैं क्या...

उस दिन से इस दिन तक
चारों दिशाओं की उलझनों में
भय–शंका–चक्र में
भ्रम–गर्भित प्रमा–वलय में
दैव को खोजने वाले दीप ही हैं क्या...

अप्रमेय शून्य में
अमृत नादालाप कर के
नीलानंत तत्व में

निश्शब्द का अनुसरण किये
दैव को खोजने वाले दीप ही हैं क्या...

देश–कालों के दीयों में
देह–आत्माओं को सुलगाये
सत्यानंद केलिये
नित्यान्वेषण ही है क्या ?
दैव को खोजने वाले दीप ही हैं क्या...

नवग्रह सभी !
नक्षत्र सभी !

–:0:–

लज्जा हो रही है

लज्जा हो रही है मुझ को
हे श्रीनिवास !
अपने सर के पके बालों को
समर्पित करने में तुम को !

अच्छे काले बाल मैं ने
पता नहीं-कितनी ही बार समर्पित किये !
पके बालों की शिखा यह
मालूम नहीं–तुम लोगे कि नहीं ?

तुम्हारे लिये ही–पोषित
इन नील कुंतल मणियों को
क्यों इस तरह बरबाद
करते रहते हो–हे गोविंद !

मेरे सर के अंदर की इच्छाएं
दिखाई पड़ें तुम को–
इसीलिए मेरे काले सर को
साफ समुज्वल कर देते हो !

मन में तुम्हारे बारे में
जितना ही ध्यान करता हूँ मैं
लगता-मेरा सर है हिमाचल
काले पर्वत, सफेद पर्वत के
बीच का शिखर–तुम ही हो न !

–:o:–

तेरे अंतर का दीप

पता नहीं–तेरे अंतर का
दीप नहीं जलता क्यों !
मालूम नहीं–मेरे अंदर की
संतृप्ति पूरी नहीं होती क्यों !

देख कर हजारों दीपों को
अवहेलना में हंसने वाले
तिमिरों का घमंड गलाने
दीप समुद्धत नहीं जलाते ?!
संतप्त जीवि के लिये
शांति ही नहीं दिलाते !?

भक्ति के दीये में
बत्ती जला कर कर्म की
ज्ञान का तेल डाले
दीप सुदृढ कर में लिये
काल–गर्भस्थ लोकों को
खोज रहा हूँ आलोक पाने !

बात में, तेरे गीत में
तेरे खेल के प्रकाश में
एक पथ खोजने वाले
इस पथिक केलिए
तेरा रूप ही दीप है !
निश्शब्द ही फिर गम्य है !

**

दूर यात्रा

अपने घर, अपनी देहली को लांघा जी
तुम्हारे पहाड पर पहुंच गया जी !

अपना गांव, अपना नाम
भूला जी !
तुम्हारा गांव, तुम्हारा नाम
सोचा जी !

तुम्हारे गांव में फिर
मेरा गांव दिखाई पडा
तुम्हारे नाम में फिर
मेरा नाम सुनाई पडा !

'क्या क्या है ?'– मालूम नहीं पडता
तुम से विवाद करने में मन नहीं लगता!

पहाड जितना मेरा दिल
बन्दर बन कर नाच उठता
सागर जितनी मेरी बुद्धि
बबूले जैसे फट जाती !

कितना भी–बढ़ूं
फल इतना ही हो शायद !
इतनी दूर यात्रा....
घर केलिए ही हो शायद !

–:(c):–

इच्छाओं का पहाड

पहाड पर से उतर नहीं सकता–
इसीलिये गोविंद–
इच्छाओं के
पहाड पर से उतर नहीं सकता–
इसीलिये गोविंद–

'इच्छाएं कोई पूरी होंगी'
यह समझ कर पहाड पर गया तो
पूरी न होने वाली इच्छाएं ही मुझ को
घेर चुकी हैं !

'पहाड पर दैव है'–
'पहाड के नीचे मानव है'– इस तरह
इच्छाओं के ही दो नाम हों शायद !
नाम–नाम के कई गांव हों शायद !

अधूरी इच्छाएं सब
मधुर स्पप्न हों शायद !
पूरी हुई कामनाएं सब
मधुर स्वर्ग हों शायद !

–:०:–

कितनी अबला हो

कितनी अबला हो
सीता माई ! तुम !
कितनी भोली हो
हमारी माई ! तुम !

शिव धनुष तोडा—इसलिए
श्रीराम से शादी कर के
अयोध्या के बदले
बिताया जीवन जंगल में !
कितनी अबला हो सीता माई...

साकेत को, साम्राज्य को
संतोष से छोड दे कर—
कनक हरिण के भ्रम में फंस कर
प्रलय मोल लायी
कितनी अबला हो सीता माई...

अग्नि जैसे लक्ष्मण की
निंदा की—
माया रावण की झूठी

बातों पर किया विश्वास
कितनी अबला हो सीता माई...

मिट्टी में जन्मी
पेड जैसे बढी
प्यारे पति के हाथ ही
वंचित हो गयी
कितनी अबला हो सीता माई...

-(.)-

कितने अनुभव भी हों

कितने अनुभव भी हों
कितनी यादें भी हों
शलभ हो कर जल जाते
विचित्र विस्मरण में !

कल को निगलने वाला
आज ही मेरा विस्मरण है
आज को कल बनाने वाला
कल ही मेरा विस्मरण है !

आसमान में उपजने वाली
अनुभूतियां सभी....
विस्मृति के सागर में ढह कर
अदृश्य होती हैं हर दिन !

विस्मृति ही जीवन है मानव को
विस्मृति ही प्राण है सृष्टि को
विस्मृति ही भूले मानव को-तो
मानव ही-विस्मृति हो जाता !

—:0:—

सप्त भूधर वेंकटेश

सप्त भूधर वेंकटेश !
हेम हास रमा विलास !

जमीन आसमान की पहुँच में न आकर
इन हवा महलों में—लीला बन कर
खुद ही अवतरित हुए हो !
या किसी ने प्रतिष्ठित किया हो !

कितने पहाड नहीं, देवता
कितने—कितने अवतरित हुए नहीं !
विश्वास न कर के और किसी पर
मालूम नहीं—मैंने तुम ही पर
क्यों किया अतुलित विश्वास चिर !

प्रेम को—स्नेह को
मैं ने अपना धर्म बना लिया
उस धर्म के लिए तुम्हारा रूप ही
मन में—अवलंब बना लिया !

मानता हूँ परिणामवाद
मानता हूँ दैव मुख वेद
पढ, सीख कर पदार्थ—ज्ञान
खोज रहा हूँ आत्म ज्ञान !

मैं स्वयं जन्मा नहीं
इसीलिए मरे बिना रह सकता नहीं
मरण—रहित स्वयंभू हो तुम
मर कर भी—तुम्हें नहीं छोड सकता मैं !

—()—

सत्य केलिए खोजा तो

सत्य केलिए खोजा तो
मृत्यु मिली क्या !
आनंद केलिए खोजा तो
वेदना बची क्या !

'मृत्यु सत्य नहीं' कहते
कराहते क्यों ?
आनंद और वेदना
आम्रेडित नहीं क्या !

क्या मार्ग है ? क्या गम्य है ?
क्या सत्य है ? क्या मृत्यु है ?
क्या क्या है ? –तुम्हें
समझाने वाले कोई हैं !

'प्रश्न तुम ही हो'– भूल जाकर
प्रश्न करने वाले तुम ही हो
समाधान तुम ही हो
समाधान देते तुम ही हो !

खोजने वाले तुम ही हो
अंत में मिलने वाले तुम ही हो
मिली चीज को खो कर
खोजने वाले पागल तुम ही हो !

⊙

अचल पर मेरा दिल

दिल ने मेरे पहाड पर
फैला दिये फन करोड !
जीवन ने मेरे जंगल में
धारण किये रूप नवल !

चीख उठा मैं...मैं
देख कर अपने आप को !
हंस पडा मैं...मैं
परख कर अपने आप को !

भ्रम में फंसा था–
बना मैं स्वयं सांप !
स्पंदित हुआ था–
बना मैं स्वयं स्वामी !

पता नहीं–कहाँ थी चेतना उतनी
पत्थर के बने पहाड के दिल में !
मालूम नहीं–कहाँ था चमत्कार इतना
कांटों से भरे जंगल के मन में !

सांप–स्वामी मिल–जुल कर
परमात्मा हों शायद !
रूप मेरा-बाप रे फिर...
भावात्मा हो शायद !

–:0:–

विश्वास नहीं करता, नहीं करता

विश्वास नहीं करता, नहीं करता, नहीं करता
विश्वास नहीं करता कि तुम हो
खिलौना हूं, खिलौना हूँ, खिलौना हूं
प्राप्ताप्राप्त खिलौना हूं...

'मानने वालों को, न मानने वालों को
न्याय पहुंचाने वाले नाथ हैं–'
'मांगने वालों की, न मांगने वालों की
आशाएं पूरी क़रने वाले ईश्वर हैं–'
ऐसा मैं विश्वास नहीं करता, नहीं करता...

'ज्ञात केलिए, अज्ञात केलिए
ज्ञाताज्ञात तीर है–
व्यक्ताव्यक्त, अव्यक्त व्यक्त
नित्यानित्य सत्य है–'
ऐसा मैं विश्वास नहीं करता, नहीं करता...

'तुम ही मैं हूं, मैं ही तुम हो
वही यह है, यही वह है
अद्वैत में आनंद पाना
सब प्रश्नों का समाधान है–'
ऐसा मैं विश्वास नहीं करता, नहीं करता...

(८)

काल ही सर्प बन कर

काल ही ने सर्प बन कर
डस लिया जब
किस से प्रार्थना करूं मैं–
'रक्षा करो मेरी !

जमीन पर, आसमान में
जल में, वायु में
कहीं भी छिपूं–
मालूम नहीं क्यों–
मेरा पता लगा कर
काल ही ने सर्प बन कर डस लिया...

जिसे मैं मां मान बैठा
अपनी कांति वल्ली समझ गया
सब का सभी केलिए
आधार मान चुका–
उस काल ही ने सर्प बनकर डस लिया...

मेरे निकट पहुंचते–पहुंचते
दूर–दूर हो जा कर

मेरे दूर जाते-जाते
खुद निकट पहुंच कर
काल ही ने सर्प बनकर डस लिया...

आदि-अंत-रहित
आनंद-जलधि में
उड जाने वाले जीवन-
पाल बने हुए मुझे
काल ही ने सर्प बनकर डस लिया...

विचारों से परे

विचारों से परे
अनुभूतियों में लीन
हो जाने वाला
मैं बना लीला !

तर्कों से दूर
खुशियों में विभोर
होने वाला पुलकित
सपनों का बना गीत !

किसी सहारे के बगैर
भयंकर सागर में लोर
खुद की होने वाली संरक्षिका
बना मैं अभिनव नौका !

किसी वीणा–वादक के बगैर
झंकृत वीणा पर
सप्त स्वरातीत...
बना मैं नव संगीत !

किसी भी भाषा को न मिलने वाली
किसी भाव–कांति के लिये
आसमान में खोजने वाला
वेदाक्ष बना मैं निराला !

(◡)

रंगीली तारा-कन्या की ओर

रंगीली तारा–कन्या की ओर
आंख मारूं !
सुनहली मनोहरी, आसमानी परी
का दामन खींचू !

'मुझे पकड नहीं पाते'–कहते
आसमान में इठलाने
वाली तारामणि से, मैं
श्रृंगार–क्रीडा करूं !

दिन भर झिलमिलाते
परदों के पीछे छिपे,
अंधेरी में मेरी आंखों में
चिद्विलास है क्या !

मांस–पेशी भर बल हो-
दिल भर प्रेम हो-
विज्ञान के पंखों से

आकाश वीथि में आने को कहे
तो रंगीली तारा-कन्या की ओर
आंख मारूं !

'समझने पर भी कितनी ही बातें
मुझे समझ नहीं सकते'-कहते
अंगार-शृंगार मिलाने वाली
रागमयी, रंगीली
तारा-कन्या की ओर
आंख मारूं !

तुम्हारे स्नेह के सामने

तुम्हारे स्नेह के सामने
बनता मैं तृण छोटा-सा
तुम्हारी क्रोधाग्नि-शिखाओं में
गल जाता मैं बन कर समिधा !

चाहे प्रेमामृत सरसाओ
चाहे अग्नि-रस बरसाओ–
पूजा ही तुम्हारी दोनों ओर
बन जाये समरस फल !

करो तो भी मेरी निंदा बार–बार
नहीं कर सकता तुम्हारा विरोध !
खिलाओ तो भी मुझ को पेट–भर
नहीं कर सकता तुम्हारी तारीफ !

पता नहीं तुम क्यों रीझ उठते हो
या क्यों टूट पडते हो–
फिर कब क्या करते हो...
प्रकट होने नहीं देते हो !

तुम्हारे प्रेम के स्पर्श से मैं
खिल–खिल कर छिन जाता हूँ !
फिर क्रोध के आघात से मैं
सिमिट–सिमिट कर जी जाता हूँ !

(८)

वीणा रहित वैणिक हूं

वीणा–रहित वैणिक हूं
रथ–रहित सारथी हूं–
ठुमकारूंगा
मौन भाव-तंत्रियों को
चलाऊंगा
देह और आत्मा के अश्वों को–
वीणा-रहित वैणिक हूं...

जमीन हो या आसमान
पानी हो या पवन
स्पर्श करने मात्र से–
स्पंदित होता महती जैसे–
वीणा-रहित वैणिक हूं...

सपना हो या सच्चाई
गतकाल हो या भावी
इशारा करते ही–
बढ़ आता स्यंदन बन–
वीणा-रहित वैणिक हूं...

वीणा केलिए हाथ बढाया
मेरा पाणि ही वीणा बना
रथ केलिए पथ ढूंढा
मेरी चितवन ही रथ बनी !
वीणा-रहित वैणिक हूं...

–:0:–

अतृप्त आशाओं में

अतृप्त आशाओं में
आंखें मूंदे बैठा मैं !
नई आशाएँ घुस–घुस
मुझे–उठा रही हैं !
बार–बार हिला रही हैं !

पाने की कामना तो...
जला डालती मुझ को सदा !
'नहीं चाहिए' वाली कांक्षा भी
चीर डालती यदा–कदा !
मुझे दाग देता बन बुदबुदा !!

पूरी नहीं हुई कामना एक
फिर वही दो कामनाएं बन कर
उठ रही है फन फैला कर
कल्लोलित मेरे दिल में
अनंत भव–सागर में !

पता नहीं—कहाँ
पैदा होती ये इच्छाएं !
मेरे हृदयाराम की
राग—शारिकाएं
हार्दिक उपचारिकाएँ !

ये अतृप्त कामनाएं
होती हैं मधुर कितनी ?
कामना को तृप्त पाना
विचित्र भ्रांति ही—हो !
मन की उपशांति ही-हो! !

-:o:-

एक सत्य स्वप्न बना

एक स्वप्न सत्य हुआ
एक सत्य स्वप्न बना
सत्य स्वप्न मिल कर
नित्य जीवन बने–

जलधि उड उड झरिया बने–
झरियां बढ-बढ जलधि बनीं
जलधि झरियां मिल कर
जगत का जीवन बने–

नर की सृष्टि की हरि ने
हरि की सृष्टि की नर ने
हरि-नर के मिल जाने से
धरणी स्वर्ग बन गयी–

कांति बुझ कर ध्वांत हुई
ध्वांत बुझ कर कांति बना
कांति–ध्वांत ही देश–
काल के रूप बने–

'तुम' घट कर 'मैं' बने
'मैं' बढ कर 'तुम' बना
'तुम-मैं' के मिलने से
आसमान-जमीन एक बने !

वही गीत बार-बार

वही गीत बार-बार...
गाने वाला पामर हूं मैं !
वही खेल बार-बार...
खेलने वाला आलसी हूं मैं !

भाव-किरण जो भी हो–
उस नीरधि में ही घुस जाती !
राग-तरंग जो भी हो–
उस तीर पर ही पहुंच पाती !

वाद्य-विशेष जैसा भी हो–
निकलता वही वंशीनाद !
नृत्य-भंगिमा जैसी भी हो–
थिरक उठता वही तांडव-नाट्य !

राह चाहे जो भी हो
मिल जाता तारापथ वही !
यात्रा–पात्र चाहे जो भी हो–
सब को है रथ–उसी सारथी का !

वाणी जो भी झंकृत हो–
फूट पडता वही वीणा-गान !
गणित-गुणना जो भी हों–
मिल जाता वही पूर्ण फल-दान !

तारों के सागर में

तारों के सागर में
सुंदर चांद की नौका
बढती है उछल–उछल कर
सरस मन मेरा–
झूम रहा है झूल–झूल कर !

अंतरिक्ष पूरा मेरा
अंतरंग बन गया
देश–काल दोनों मेरे
कर–दीप बन गये !

प्रकाश में न दिखने वाले
अजीब अजीव लोक
अंधेरी के परदे पर
अजीब अजीब ढंगों से
सोल्लास चमक उठे !

नजर ऊपर उठाते ही–
कोटि दीप जल उठे
मन का किवाड खोलते ही–
महामाया हट गयी !

तारा–वीचियों पर....
लडखडाती अनुभूति–नौका
किस ढंग से बढ़े चलेगी !
किस तीर पर पहुँच जायेगी !

*

भाव भौतिकवादी हूं मैं

भाव भौतिकवादी हूं मैं
रोदसी-गति-वेदी हूं मैं–

बिना भाव-रूपी कांति के
भौतिकता दिखती नहीं
बिना भौतिक स्थिति लय के
भावना ही प्रसारित होती नहीं–

'है' मानने वाले भाव में ही
आंख खोलता लोक
'नहीं-नहीं' मानने वाले के लिए
नहीं कहीं भी आलोक !

भ्रांति में उगता है भाव
भाव में सच बनती भ्रांति
भाव-भ्रमर भ्रमावरण में
भौतिकाकृति जीव-कांति है !

–:०:–

भद्राचल राम

हे ! भद्राचल राम !
मेरी रक्षा का भार तुम पर है रे !
तुम्हारा धाम-मेरी व्यथाओं का
गोदावरी तीर है रे !

काम-क्रोधों ने मुझे
कष्टों के जंगल में ढकेला रे
भौतिक शांति-सुखों से
बहुत दूर कर दिया रे
हे ! भद्राचल राम !...

लोभ-मोहों ने
मेरी बुद्धि को लूट लिया
ममता केलिए तडपते मुझे
माया की राह पर भटका दिया
हे ! भ्रद्राचल राम !...

मद-मात्सर्यों ने
मेरे जीवन को ही कैद किया

सत्य केलिए खोजते मुझे
मार डालनें का संकल्प किया
हे ! भद्राचल राम !...

अपने करूणा-पुष्पक में
मुझे थोडी जगह दो रे !
चिदानंद अयोध्या-मुझे
शीघ्र ही ले जाओ रे !
हे ! भद्राचल राम !

-:0:-

नक्षत्र रूपी नयनों से

नक्षत्र–रूपी नयनों से
देख रहा है काल !
शून्य–रूपी सागर को
शोध रहा है काल !

रुके बिना पल भर भी
बढ रहा है काल–नाला !
बिना किसी गम्य के ही
उड रहा है काल–यान !
नक्षत्र–रूपी नयनों से....

रक्षक–रहित भूगोलक
मारे डर के सहम जाता !
प्रकाश तिमिर के जालों में
थर–थर कांप उठता !
नक्षत्र–रूपी नयनों से....

विगत, भावी, आदि, अंत
स्थिति लय हीन है !

अनंत–रूपी भावना का ही–
अर्थ भी कोई नहीं !
नक्षत्र–रूपी नयनों से....

देश काल भी खुद ही
मार्ग न जान लडखडाते !
मानव तो जाने–से कितने ही
अहंभावी बन उछल पड़ते !
नक्षत्र–रूपी नयनों से....

–:0:–

प्रकाश का प्यासा

प्रकाश को खोजने वाले
हे पागल तिमिर !
तुम्हारी पलकों तले ही
दीप हैं अमर !

आंखें बन्द किये क्यों
तडप रहे हो प्रकाश पाने ?
पैर जकड कर फिर कहते क्यों–
चल नहीं पाता अपने रास्ते ?

भय के मदरसे में...
गुलामी की भाषा में...
कष्टों को पढ–पढ कर
दृष्टि अपनी खो गये फिर ?

जला डालने वाली भूख
न सह सकने के हेतु–
हकों के दीप अनेक
निगल–निगल कर...

फिर कहते हो–
'जीवन ही दिखेगा नहीं !'
तडप उठते हो–
बन कर स्वयं अंधे !

–:(०):–

तीन मूर्ख

मूर्ख हैं तीन तरह के !
सब का अधिनेता मैं ही हूँ–

'अस्ति' कह कर सोचनें वाले–
'नास्ति' कह कर विवाद करने वाले–
न जाने–'अस्ति–नास्ति' कहते
दुविधा में डोलने वाले–
मूर्ख हैं तीन तरह के !

'अस्ति' कह सोचने वालों के लिए
दर्शन हुए नहीं फिर भी
'नास्ति' कह विरोध करने वालों के लिए
न होने का सबूत नहीं कोई भी

'अस्ति–नास्ति' कह डोलते रहें
तो भी–मिलने वाला फल नहीं कोई भी
'अस्ति' कहें या 'नास्ति' कहें
मालूम नहीं–'अस्ति–नस्ति' कहें
तो भी– होने वाला मिट नहीं जाता
न होने वाला उठ नहीं आता–

'अस्ति' कहें तो 'नास्ति' कहूँगा
'नास्ति' कहें तो 'अस्ति' कहूंगा
न जाने–'अस्ति–नास्ति' कहें तो
सपना ही सच हो–कहूँगा !

••

तुम को बुलाते

'याद करो'– कह कर तुम से
मैं ने की प्रार्थना बार-बार
तो भुला रहे हो मुझे
हे ! माया मय मित्र वर !

पढा हुआ सब–मैं
निद्रा में भूल जाता
निद्रा–रहित मान तुम को
निद्रा से जाग–तुम से पूछा
तो भुला रहे हो मुझ को
हे ! माया मय मित्र !

एक देख सपना समझ
एक देख वास्तव मान
भ्रमित हो–एक को एक और जान
घुटने लगते हैं मेरे दम !

तर्क करते करते
सत्य चमक उठते
परिभाषा–शक्ति न होने से
न बोल सकता, न लिख सकता !

आदि–रहित, अंत–रहित
विवाद में फंस जा कर
खुद अपने को भूल जाता
तुम को बुलाते–सो जाता !

**

स्नेह-रहित दीप

स्नेह-रहित होने पर भी
यह दीप बुझता नहीं क्यों ?!
तंत्री-रहित होने पर भी
यह वीणा झंकृत होती क्यों ?!

सागर-समाधि में पहुंचने
दौड आयी हुई नदियां क्यों
बच निकल लौट जाने
तीव्र प्रयत्न करती हैं ?!

स्मशान में भी जीने की
राह की ओर अनंत आकर्षण !
इस जीवन-मरण-संध्या में भी
जीने केलिए-मानव का निरंतर संघर्षण !

ओह ! यह दुनियाँ है कितनी
अनंत आशा-भावोन्मादिनी !
आने वाले रवि के हेतु–
रात भयंकर भी सह लेती है !
स्नेह-रहित यह दीप...

जीवन-तट पर मुझ में
उदभासित भावना कोई
उछल-उछल, उभर-उभर
बनी अक्षर अनुभूति गीत फिर !
स्नेह-रहित यह दीप...

–:0:–

कितने गीत

कितने गीत हैं तुम्हारे बारे में
सप्तगिरि वास श्री वेंकटेश !
भूल जा कर सब गीतों को
तुम ही को अक्षर बना गीत लिखूंगा !

अक्षर तुम हो तो–
मैं लाखों गीत पिरोता
पद–पद तुम्हारा पाद हो तो–
मैं 'प्रणव–यात्रा' को निकलता !

छंद क्या है ? शब्द क्या है ?
राग क्या है ? भाव क्या है ?
आदि क्या है ? अंत क्या है ?
क्या क्या है ?– न मालूम होने वाले
नाद को ही–अपनी नव्य कृति बना कर
मैं अपने को खुद सर्मपित करता !

तुम स्वयं ही गीत होते
तुम ही मेरे मन की बात होते !
बस ! पागल गीत हजारों क्यों ?
श्रीवेंकटेश ! चिद्विलास !

भ्रमर-भ्रमण

नाम-रहित श्रीनिधि के
कई नाम रखे मैं ने
नाम-नाम को अलग मान कर
उलझ रहा हूँ मैं स्वयं–

नाम अलग अलग हैं-तो
गांवों को भी - अलग मान कर
किस गांव में, किस नाम से
किस ढंग से बुलाना है–
न जानते हुए भटक रहा हूं–

'यह नहीं-वह नहीं' कह
'यह, वह, कोई नहीं' कह
न पहचानते-राह क्या है–
समझते–राह ही नहीं है–
राह को खोजता ही रहता–

'राह-रहित तीर को
राहें सब पहुंच जातीं'
यह न जान अज्ञात राह पर
जाने वाला मुसाफिर ही हूं मैं !
इस भ्रम वाले भ्रमर-भ्रमण का
कोई गम्य ही नहीं क्या?!

–:0:–

शाश्वत है ईश्वरता

शाश्वत है रे ईश्वरता !
विश्व में...
ईश्वरता शाश्वत है रे !
जिन ऐश्वर्यों को
हम समझते शाश्वत
वे काल की
वैश्वानल-ज्वालिकाओं में
जल जायेंगे रे !

शाश्वतता को उच्छ्वास
ईश्वरता को निश्वास
बना कर जीना ही—
चेतना-शक्ति है रे !
जीवद्विमुक्ति है रे !

आनंद तत्व ही—
आद्यंत सत्य है—
सत्य स्वरूप ही—

सगुण ब्रह्मत्व है-
शाश्वत है ब्रह्मत्व
सगुण निर्गुण तत्व-

विश्वास शैलजा-
विदित विश्वेश्वर का
विश्व निश्वासाश्व
विचलितानंदात्म
चक्र ही शाश्वत है रे !
शाश्वत है ईश्वरता रे !

—:o:—

है कहें तो है लोक

'है' कहें तो है लोक
'नहीं' कहें तो नहीं–
'है' या 'नहीं' वाला विवाद
आज का नहीं–

आदि शंकर जी का
मिथ्यावाद
द्वैताद्वैत
विशिष्टाद्वैत
भौतिकवाद, भाव विनोद
जो जैसा भी हो, कोई कुछ भी कहें
'है' कहें तो है...

जीवन का अर्थ
मृत्यु का मतलब
ढूंढ–ढूंढ कर
थक जाना क्यों ?
स्वर्ग–नरक, पाप–पुण्य

वाली चर्चाओं में फँस जाना क्यों ?
'है' कहें तो है...

काल है अनंत
देश है अनंत
गत-भावी
स्थिति-लय हैं अनंत
बाप रे बाप-यह है वेदांत !
'है' कहें तो है...

-:o:-

हिमगिरि के कान में

हिमगिरि के कान में...
गंगा झरी फुसफुसायी !
मेरे लिए बिलकुल नया
आसमान अवतरित हुआ !

गल जाने वाले पाले में
काल आंखें खोल रहा है
पद-पद में भावी को
विगत पाठ पढा रहा है !
हिमगिरि के कान में...गंगा झरी फुसफुसायी !

हृषीकेश में जीव
ऋषित्व पा गया
हरिद्वार में अहं को
अर्घ्य बना छोड दिया !
हिमगिरि के कान में...गंगा झरी फुसफुसायी !

श्वेत गंगा, नील मयुना
हाथ में हाथ बांध कर
आत्मानंद विभोर हो उठीं

इलाहाबाद के अंक में !
हिमगिरि के कान में...गंगा झरी फुसफुसाई !

समता–जलधियों को ढूंढती
ममता–संगीत–धुनों में
मिल गयीं–मेरे अंतर की
क्रांति–भावना–झरियां !
हिमगिरि के कान में...गंगा झरी फुसफुसायी !

सब से बढिया

सब से बढिया
बनी हुई
श्रीनिधि सन्निधि में
पहुंचना है कैसे
इस अंधेरे में !

न मिली हुई चीज केलिए
ढूंढने वाले को
संपन्न क्या
सहारा नहीं देता ?
जो कुछ है-उसे भी
संपन्न को ही
'कर' के नाम चुका देना है !
सब से बढिया बनी हुई श्रीनिधि-सन्निधि में ...

'है' सोच कर
देखा चारों ओर
तो दिखने वाली
है सघन अंधेरी ही !

'नहीं-नहीं' कह
आंखें मूंदीं-तो
अजीब प्रकाश कोई
खोलता मेरी आंखें !
सब से बढिया बनी हुई श्रीनिधि सन्निधि में ...

••

हे रंगनाथ

हे रंगनाथ ! अंतरंग–नाथ !
वाक–तरंगों पर उड़ आओ न !
भाव–श्रृंगों का रथ चढ़ आओ न !

तुम्हारे लिए ही मैं
इस काल तट पर
मृत्तिका–गोल के
बेड़े पर बैठ कर
प्रतीक्षा में हूँ–आओ रे !
मुझे तुम ही– देख याद रखो रे !...

मालूम नहीं रे–
'तुम्हारी राह क्या राह है ?'
मेरी राह तो
यह जन–मार्ग ही है रे !
मेरी राह पर ही आ जाओ रे !
मुझे अपनी राह पर लेते जाओ रे !

तारों को गिनते
शून्य को मापते

अपने में, अंदर ही अंदर
तुम्हारी लीला की कल्पना करते
पागल जैसे चिल्लाने वाले
बेवकूफ़ मुझे
पार पहुंचाने का समय हुआ रे !
यह कामना की जलन पर्याप्त है रे !

कोई भी–तरंग उठे, कोई भी हवा बहे
कोई भी फूल खिले, कोई भी प्रकाश दिखे
तुम्हारा आगमन ही समझता रे !
आह भर कर–तुम ही को–मैं–समझ लेता रे !

श्रीरामचंद्र को

श्री रामचन्द्र को
जंगल में निवास–
पादुकाओं केलिए तो
राजतिलकोत्सव–

शक्ति को निगल लिया
युक्ति–चातुर्य ने
हकों को हड़प लिया
प्रमत्त स्वार्थ ने !
श्रीरामचंद्र को जंगल में निवास...

आत्माभिमान
जंगल में भटक गया
नीति, ईमानदारी
निद्रा में खो गयीं !
श्रीरामचंद्र को जंगल में निवास...

ममता रो–रो कर
मिट्टी में मिल गयी !
व्यथा–गर्भित जीवन–गाथा
इतिहास बन गयी !
श्रीरामचंद्र को जंगल में निवास...

⊙

सांपों को खेलाते

सांपों को खेलाते
जी रहा हूँ मैं
विष–जीवों पर विश्वास करने वाला
अजीब आदमी हूं मैं !

कल्पना के उरग दिल में
फुफकार रहे हैं–तो
आदि शेष को खोजने वाला
नादान हूं मैं !

कष्टों के फण मेरे कंठ को
बांध रहे हैं–तो
काल–सर्प को पकडना चाहने वाला
कर्मठ हूं मैं !

षड्यंत्रों के सांप मुझ को
डस रहे हैं–तो
कालीय फणाग्र पर
तांडव कर रहा हूं मैं !

मेरा जीवन ही नागिन हो कर
नाच रहा है–तो
मैं ही नाग–स्वर हो कर
मुखरित हो रहा हूं !

(○)

हजारों वेद-वीणाएं

हजारों वेद-वीणाओं को
एक बंशी में मुखरित करने वाला
बृंदावन स्वामी...
मेरे दिल में बस गया !

दीवानी बन कर मैं ने उस को
ढूंढा यमुना-तट पर
चिंतित हुआ उस केलिये
अंधेरी की सेज्जा पर—

कल्पना के पंख लगा कर
तारापथों को छान डाला
अंतरिक्ष-मौली को, अपने
अंतरंग में प्राप्त कर लिया !

जहां प्रेम खिलता है
वहां वह महकता है
प्रेम करने वाले सब का
प्रियतम हो कर लालन करता है !

एक से भी प्रेम करने योग्य
शक्ति न रखने वाली हूं मैं—
कितने ही प्रेमार्तों को भी
अपनाने वाला स्वामी है वह !

—:0:—

हंसती शिलाएँ

सप्त गिरि शिखरों पर
कितने दिनों का निवास है !
आदि देव के लिए—असल में
कौन—सा वैकुंठ है !

सपना—सा भगवान
शिला बना हो—या
शिला जैसा भगवान
सपना बना हो !

वैकुंठ इसे मान कर
आया तिरुमल
रक्षक तुम को ही मान कर
प्रार्थना की एक शिला से !

देवालय के शिल्पों ने
पहचान लिया है मुझ को
प्रश्न कोई पूछ—पूछ कर
ठहाके से हंस पडे वे !

विश्वास करता हूँ या नहीं
मैं तुम पर—नहीं जानकर
अवहेलना का बना शिकार—
यह जान कर...
हंस पडी हों वे शिलाएँ !

—:(०):—

तुम्हारी चितवनों में घर

तुम्हारी चितवनों में मैं ने
घर बना लिया
तुम्हारी मुसकानों में मैं ने
दीप जला लिया !

तुम ही बने आभा मेरी
तुम ही हो छाया मेरी
फिर भी मुझे न जानते-से
दिखने वाले चरण–चिह्न हों !

'तुम में मैं हूँ'–ऐसे
कल मैं ने सपने देखे
'मुझ में तुम हो'–ऐसा
आज मैं ने समझ लिया !

कांति केलिए खोज–खोज कर
आंखें अपनी मूंद लीं–
मुझे नयन बनाये हुए
तुम को–निहार लिया !

–:0:–

प्रणय गीत लिख कर

प्रणय गीत लिख कर
प्रगति गीत रच कर
प्रणव गीतों में–
विभोर हो रहा हूं मैं !

सहेली के प्रेम में मैं
चेतनाब्द बना
मनुष्य केलिए गिर कर मैं
मिट्टी में लोटा !
पवन केलिए ठुमकारे
गांधर्व राग
जमीन केलिए किये
निर्वेद त्याग
गठरी बांध कर आज मैं
भावाब्धि में डूबा !

'राग नहीं तो
त्याग नहीं रे!
त्याग नहीं तो
योग नहीं रे !
'भोग ही ओंकार योग है'
यह रहस्य तुम समझो रे !

–:0:–

मुझे बुलाने जो आई

मुझे बुलाने जो आई
मेरी मान्य मृत्यु–रानी
रवाना होने के पहले
लिखने दो एक गीत मुझे !

श्रुति बना कर हर त्रुटि की
लिखे मैं ने गीत कई !
क्या तुम करती हो शंका–
मैं और क्या लिख पाता ! ?

हाँ– मैं नें जो गीत लिखे
अनगिनत हैं सचमुच–वे
गिनने योग्य गीत एक प्रवर
लिख लूं मैं अब सत्वर !

अज्ञान पर–ज्ञान की मुहर लगा कर
लिखे हुए थे वे गीत सभी !
ज्ञान को अज्ञान मान कर
लिख दूंगा मैं गीत शुभकर !

यह तो वास्तव में–
और कोई गीत नहीं !
'सोहं' कह कर तुम को
'दासोहं' कहने का है-अभिनव गीत !

–:०:–

डा. जे. बापुरेड्डी जी की अन्य रचनाएं

बापुरेड्डी गेयालु

बापुरेड्डी गेय नाटिकलु

बापुरेड्डी गद्य काव्यालु

बापुरेड्डी पद्य काव्यालु

अनंत सत्यालु

नाद वेदालु

प्रेमारामं

नादेशंनव्वुतुंदि

अंता मन चेतिलोने उंदि

व्यवधि लेदु (अंग्रेजी से अनुवाद)

इन क्वेस्ट आफ हार्मोनी (अंग्रेजी)

लांगिंग फर लैफ (अंग्रेजी)

डा. ए. श्रीरामरेड्डी जी की अन्य रचनाएं

पंत-काव्य में सौन्दर्य-भावना	(शोध प्रबन्ध)
कलियों के द्वार पर अलियों का गुंजन	(हिन्दी निबंध)
सुमन मन	(हिन्दी काव्य)
आग और राग	(हिन्दी काव्य)
छठीं कक्षा	(द्वितीय भाषा) पाठ्य पुस्तक
मंजरी-छठीं कक्षा	(प्रथम भाषा) रेपिड रीडर
अंतर भारती-नव सोपान	(तेलुगु से रूपान्तरित रेडियो रूपक-प्रकाश्य)
गोदावरि बिंदुवुलु	(तेलुगु काव्य)
अक्षय तूणीरमु	(तेलुगु निबन्ध)
गंगा तीरपु काकि रेक्कलु	(हिन्दी से रूपान्तरित उपन्यास-प्रकाश्य)
हिन्दी साहित्यावलोकनं	(तेलुगु में हिन्दी साहित्य समीक्षा-प्रकाश्य)